

# बदलते शहर में रोज़गार

ललित बत्रा

(अगस्त 2004)

खतरा केन्द्र  
92-H, 3<sup>rd</sup> फ्लोर  
प्रताप मार्केट, मुनिरका  
नई दिल्ली - 110 067  
दूरभाष: 26187806, 26714244

## बदलते शहर में रोज़गार

ललित बत्रा  
खतरा केन्द्र  
अगस्त 2004

### भूमिका

दिल्ली व देश के अन्य शहरों में पिछले दशक के दौरान बड़े पैमाने पर झुग्गी-झोपड़ियों को हटाने की घटनाएं हुई हैं। वैसे तो झुग्गियां हटाने का सिलसिला इस पूरे दौरान चलता रहा है मगर कुछ ऐसे बड़े विस्थापन हुए हैं जो देश के स्मृति पटल पर काले धब्बे के रूप में अंकित हैं। मुंबई में संजय वन, कलकत्ता में टोली नाला और दिल्ली में यमुना पुश्ता इसकी कुछ मिसालें हैं

साझा मंच पिछले 5 वर्षों में झुग्गी विस्थापन की मौजूदा प्रक्रिया का विरोध करता आ रहा है। मंच ने हमेशा इस बात को रखा है कि विस्थापन से लोगों का आवास का अधिकार तो छिनता ही है उससे भी बढ़कर अधिकांश लोग आजीविका के अधिकार से वंचित हो जाते हैं। इस समझ का आधार यह तथ्य है कि झुग्गियों की बसाहट एवं रोज़गार के अवसरों की उपलब्धता के बीच एक अभिन्न रिश्ता है। यह सम्बंध विस्थापन से बिगड़ जाता है क्योंकि शहर की सरहद पर बसायी जा रही पुनर्वास बस्तियों में रोज़गार की उपलब्धता न के बराबर होती है।

किंतु विस्थापन का सबसे पहला एवं सीधा परिणाम क्योंकि बना-बनाया आवास छिन जाने के रूप में दिखाई पड़ता है, इसलिए इसके खिलाफ चलाया जा रहा अभियान मूलतः 'आवास के अधिकार' के फ्रेमवर्क के तहत संचालित हुआ है। इस फ्रेमवर्क के तहत काफी अनुभव लेने के बाद पिछले कुछ समय से साझा मंच में यह राय विकसित हो रही है कि मूल समस्या आवास की नहीं बल्कि रोज़गार की है। लोग गांव से अपना बसा-बसाया घर छोड़कर शहर आते हैं रोज़गार की खातिर, झुग्गियों के अमानवीय हालातों में रहने को मजबूर होते हैं रोज़गार के चलते और विस्थापन का विरोध करते हैं तो मूल रूप से इसलिए क्योंकि इससे उनका काम प्रभावित होता है। इस स्थिति में क्या बेहतर रणनीति यह नहीं होगी कि झुग्गियों के विस्थापन या अनधिकृत कालोनियों के मसले को प्राथमिक रूप से 'रोज़गार के अधिकार' के हनन के रूप में देखा जाए? इस बात को इस तरह से भी समझा जा सकता है कि झुग्गियों का विस्थापन शहरी गरीबों पर हो रहे हमले का केवल एक आयाम है। इसके अन्य आयाम हैं – उद्योगबंदी, रिक़शा, रेहड़ी-पटरी जैसे अनौपचारिक कामों पर पाबंदी, सार्वजनिक उद्यमों का निजिकरण, मशीनीकरण, अनियमितिकरण एवं ठेका प्रथा में बढ़ोत्तरी, बढ़ती बेरोज़गारी इत्यादि। इन सभी पहलुओं को यदि एक साथ मिलाकर देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल मुद्दा रोज़गार का है। दरअसल, आवास पर हमला श्रमिक वर्ग को कमज़ोर बनाने के लिए उठाए जा रहे कदमों का ही एक अभिन्न अंग है।

इस प्रस्थापना के मद्देनज़र हमारे समक्ष चुनौती है कि हम श्रमिक वर्ग की अस्मिता पर हो रहे हमले की दृष्टि से दिल्ली में रोज़गार की स्थिति को कैसे समझें। साझा मंच से जुड़े विभिन्न संगठनों ने इस दिशा में काफी काम किया है। हमने भी कुछ हद तक 'दिल्ली किसकी है?' में इस विषय पर एक प्राथमिक खाका खींचा था। प्रस्तुत आलेख इस मुद्दे पर बहस को बढ़ाने एवं साझा मंच की रणनीति तैयार करने में मदद देने के मकसद से बनाया गया है।

## ऐतिहासिक पारिप्रेक्ष्य:

### औद्योगीकरण आधारित नियोजित विकास एवं श्रम बाजार

300 साल की औपनिवेशिक लूट के बाद 1947 में जब अंग्रेज भारत छोड़कर गए तो पीछे धरोहर के रूप में एक बदहाल अर्थव्यवस्था देकर गए। एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें लोगों के जीवन-यापन के परम्परागत स्रोत बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो चले थे और नए स्रोत केवल अपनी शैशवस्था में थे। इस संदर्भ में नेहरू जी के नेतृत्व में जो राजनीतिक सत्ता गठित हुई उसने साफ नीति बनाई कि देश का विकास नियोजित मिश्रित अर्थव्यवस्था एवं बड़े पैमाने के औद्योगिकरण के द्वारा ही हो सकता है। देश के पूंजीपति वर्ग ने भी इस सोच का समर्थन किया क्योंकि उस वक्त इस वर्ग के पास इतनी पूंजी नहीं थी कि अपने बूते व्यापक स्तर पर बड़े एवं आधारभूत उद्योग खड़े कर सके। इस तरह से सार्वजनिक क्षेत्र की उत्पत्ति हुई, पंचवर्षीय योजनाओं का दौर शुरू हुआ और यह माना जाने लगा कि कुछ ही दशकों में भारत पश्चिम के विकसित औद्योगिक देशों की श्रेणी में जा पहुंचेगा। विकास की इस महायात्रा में श्रमिकों को भी भागीदार बनाने की बात हुई।

विकास का यह सपना इस उम्मीद पर आधारित था कि जैसे-जैसे औद्योगिकरण फैलेगा, वैसे-वैसे ग्रामीण-कृषि आधारित उत्पादन प्रणाली गायब होती जायेगी और उसकी जगह आधुनिक तकनीक आधारित, शहर स्थित उद्योग ले लेंगे। इसके साथ यह भी माना जाता था कि शहरों में जो बड़ा हिस्सा उद्योगों के अलावा अन्य क्षेत्रों में कार्यरत था, जैसे कारीगर या रिक्शाचालक या फेरीवाले इत्यादि, वे भी आधुनिक औद्योगिक विकास के साथ लुप्त हो जाएंगे। यही वजह है कि राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं अकादमिक हलकों में जब मजदूर की बात होती थी तो केवल बड़े कारखानों में काम करने वाले श्रमिक के चेहरे को ही सामने रखकर होती थी। आधुनिक औद्योगिक एवं प्रशासनिक क्षेत्र को छोड़कर रोजगार के बाकी सभी क्षेत्रों को 'residual' यानि 'अतीत से बचे-खुचे' क्षेत्र कहा जाता था। यही वजह है कि विभिन्न नीतियां एवं श्रम कानून बनाते वक्त इस 'बचे-खुचे' क्षेत्र को पूरी तरह से नज़रअंदाज़ कर दिया गया। यह इस तथ्य के बावजूद है कि 1950 के दशक में देश में कारखाना मजदूरों की कुल संख्या केवल 1 करोड़ थी जो देश के सभी मजदूरों का केवल 6 फीसदी और गैर-खेतिहर मजदूरों का 17 फीसदी थी। इन 1 करोड़ कारखाना मजदूरों में से भी केवल 25 लाख संगठित क्षेत्र में थे। बाकी 75 लाख असंगठित क्षेत्र में थे यानि वे भी योजना एवं कानून के दायरे से बाहर थे। इस तथ्य को इस तरह से भी रखा जा सकता है कि जिन 17 करोड़ श्रमिकों के कंधों ने देश की तरक्की का बोझ उठाया उनमें से केवल 25 लाख यानि 1.5 फीसदी श्रमिकों के कंधों पर मलहम लगाने की ज़िम्मेदारी शासन व्यवस्था ने ली। इस तरह से देश के श्रमिक दो भागों में बंट गए – संगठित क्षेत्र के श्रमिक एवं असंगठित क्षेत्र के श्रमिक। संगठित क्षेत्र के श्रमिकों को तुलनात्मक रूप से बेहतर मजदूरी, सामाजिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, जीवनसुरक्षा एवं पेंशन लाभ हासिल हुए। असंगठित क्षेत्र में कार्यरत मजदूरों को मिली जीवन को किसी तरह से घसीटने लायक मजदूरी एवं काम के नारकीय हालात।

### श्रम कानून एवं श्रमिक

भारत जैसे देश में श्रम कानून मजदूरों का जीवन स्तर सुधारने एवं उन्हें काम के बेहतर हालात देने का एक प्रभावशाली माध्यम बन सकते थे। मगर श्रम कानूनों को जिस तरह से बनाया गया उससे संगठित एवं असंगठित का भेद बढ़ता चला गया। देश के नीति निर्माताओं के दावों को कपोल-कल्पना साबित करते हुए असंगठित क्षेत्र न केवल गायब नहीं हुआ बल्कि लगातार बढ़ता चला गया। असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के लिए कानून के अभाव ने मालिकों को भी सस्ते में उत्पादन कराने का रास्ता मुहैया करा दिया। इससे असंगठित क्षेत्र को और बल मिला।

संगठित एवं असंगठित क्षेत्र की नींव 'फैक्टरी अधिनियम, 1948' से पड़ी। इस अधिनियम के तहत काम के हालात, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा, मूल सुविधाएं जैसे शौचालय इत्यादि, काम के घंटे, बात श्रम एवं रात को महिलाओं

से काम लेने पर रोकथाम, कार्यस्थल पर बालवाड़ी एवं अन्य बहुत से विषयों को शामिल किया गया। किन्तु इस अधिनियम के दायरे में केवल उन्हीं उपक्रमों को रखा गया जहां बिजली का इस्तेमाल और 10 या उससे ज्यादा मजदूर काम करते हैं अथवा बिजली का इस्तेमाल न हो और 20 या उससे ज्यादा मजदूर कार्यरत हों। इस अधिनियम ने एक झटके में बहुसंख्यक मजदूरों, जो अधिनियम की 'फैक्टरी' की परिभाषा से छोटे उपक्रमों में काम करते थे, को कानून की सुरक्षा से मोहताज बना दिया।

इसके बाद 'कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948,' पारित हुआ। इस अधिनियम के तहत मजदूरों के लिए स्वास्थ्य, मातृत्व लाभ एवं दुर्घटना मुआवजा जैसी सेवाओं का प्रावधान किया गया। मगर यह अधिनियम केवल उन्हीं उपक्रमों पर लागू हुआ जिन्हें 'फैक्टरी अधिनियम, 1948,' के तहत रखा गया था। 1952 में 'कर्मचारी प्रोविडेंट फंड अधिनियम' आया और 1965 में 'बोनस अधिनियम' पारित हुआ। किंतु ये दोनों अधिनियम भी उन्हीं उपक्रमों पर लागू होते थे जहां 20 या उससे ज्यादा श्रमिक काम कर रहे हों।

श्रम कानूनों का दायरा सार्वभौमिक न होने की वजह से मालिकों को इन कानूनों को ही धता बनाने के बहुत सारे रास्ते मिल गए। मसलन, एक उपक्रम को बहुत से छोटे उपक्रमों में बांटकर उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र दिखा देना, मजदूर को पक्का होने से पहले ही निकाल देना और फिर दोबारा नए सिरे से काम पर लगाना, उत्पादन का काम छोटे वर्कशापों को ठेके पर दे देना, बड़ी संख्या में ठेका मजदूरों को काम पर लगाना इत्यादि।

कुछ कानून हैं जो सिद्धांततः सभी श्रमिकों पर लागू होते हैं और एक हद तक असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों को कुछ सुरक्षा देते हैं। इनमें 'न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1948' और 'ठेका श्रम (नियंत्रण एवं रोकथाम) अधिनियम' 1971,' महत्वपूर्ण हैं। किंतु, असंगठित क्षेत्र, जहां रोजगार की सुरक्षा ही हर वक्त खतरे में रहती हो और मालिक जब चाहे मजदूर को काम से निकाल सकता हो वहां न्यूनतम मजदूरी की गारंटी करना एवं ठेका प्रथा पर रोक लगाना अभी तक तो असम्भव ही साबित हुआ है।

### **ट्रेड यूनियन आंदोलन एवं श्रमिक**

कहते हैं कि पूंजी के साथ अपनी लड़ाई में श्रमिक के पास जो एकमात्र हथियार है वह है उसकी एकता। ट्रेड यूनियन मजदूरों की एकता का सांगठनिक रूप है। यह वह जरिया है जिसके द्वारा मजदूर सामूहिक रूप से अपनी मांगों और शिकायतों को मालिक एवं सरकार के सामने रख सकते हैं। आज दुनिया के अधिकांश देशों में मजदूरों को यूनियन बनाने का हक हासिल है। लेकिन यह हक उन्हें खैरात में नहीं मिला है। इसके लिए दुनिया भर में मजदूरों ने बड़ी लड़ाइयां लड़ी हैं और अनगिनत कुर्बानियां दी हैं

भारत में ट्रेड यूनियन आंदोलन का जन्म अंग्रेजी हुकूमत के दौरान आधुनिक कारखानों एवं अन्य उपक्रमों के आगमन के साथ हुआ। तब से लेकर आज तक ट्रेड यूनियनों ने मजदूरों के हितों को आगे बढ़ाने के लिए अनगिनत लड़ाइयां लड़ी हैं। आज जो भी श्रम एवं सामाजिक सुरक्षा कानून दिखाई पड़ते हैं उन्हें बनवाने एवं लागू करवाने में भी मुख्य रूप से ट्रेड यूनियनों ने ही संघर्ष किया है। किंतु हमारे देश के ट्रेड यूनियन आंदोलन के साथ यह त्रासदी रखी है कि वह मूलतः संगठित क्षेत्र तक ही सिमटा रहा है। असंगठित क्षेत्र में यूनियन बनाने का काम बहुत कम हुआ है। इसकी वजह एक तो यह है कि असंगठित क्षेत्र में यूनियन बनाना संगठित क्षेत्र की तुलना में काफी कठिन है। संगठित क्षेत्र में एक जगह काफी सारे मजदूर इकट्ठे काम करते हैं तथा मजदूर एवं मालिक के बीच सीधा एवं स्पष्ट संबंध होता है। जबकि असंगठित क्षेत्र के मजदूर छितरे होते हैं और अधिकांश मामलों में मालिक के साथ उनका संबंध स्पष्ट नहीं होता है। दूसरी वजह शायद यह है कि ट्रेड यूनियन आंदोलन के प्रभावी नेतृत्व के बीच भी यह मान्यता व्याप्त रही है कि औद्योगिकरण की प्रक्रिया के

आगे बढ़ने के साथ-साथ असंगठित क्षेत्र धीरे-धीरे लुप्त हो जाएगा। जैसे पश्चिम के विकसित औद्योगिक देशों में एक ऐतिहासिक काल के दौरान हुआ।

वजह चाहे जो हो लेकिन वास्तविकता यही है कि असंगठित क्षेत्र यूनियनों के दायरे से बाहर रहा है। हालांकि पिछले दो दशकों के दौरान असंगठित क्षेत्र को संगठित करने के कुछ प्रयास हुए हैं। जैसे निर्माण मजदूर पंचायत संगम ने निर्माण मजदूरों को संगठित करने का प्रयास किया है, 'सेवा' ने गुजरात में खुद से काम करने वाली महिलाओं को संगठित किया है, खेतिहर मजदूरों को संगठित करने के लिए बहुत से संगठन बने हैं। इस तरह से असंगठित क्षेत्र के बहुत से हिस्सों के बीच आज देश भर में बहुत सी यूनियनें एवं दूसरे संगठन सक्रिय हैं। मगर इन तमाम प्रयासों के बावजूद आज भी देश के केवल 3 फीसदी मजदूर ही यूनियनों के साथ जुड़े हैं।

### **असंगठित क्षेत्र: चरित्र एवं विशेषताएं**

गांव से शहर की ओर आप्रवास आजादी से बहुत पहले शुरू हो गया था। आजादी के बाद इस प्रक्रिया को बल मिला। हर वर्ष लाखों की संख्या में लोग शहरों का रुख करने लगे। मगर इनमें से केवल थोड़े ही लोगों को संगठित क्षेत्र में काम मिल पाया। बाकी लोगों ने पेट भरने के लिए असंगठित क्षेत्र में मौजूद पचासों धंधे अपनाये। रेहड़ी-पटरी, रिक्शा, निर्माण मजदूरी, बूट पालिश, कूड़ा बिनाई, माल ढुलाई, घरेलू काम, साइकिल मरम्मत, नाई, दर्जी का काम इत्यादि अनेकों काम हैं जो संगठित क्षेत्र में प्रवेश न कर पाए लोगों के हिस्से में आए। दिलचस्प बात है कि शहरों के कुल रोजगार में असंगठित क्षेत्र की बहुतायत होने के बावजूद इस क्षेत्र की तरफ नीति निर्माताओं का कभी ध्यान नहीं गया। ऐसा नहीं है कि शहरी असंगठित क्षेत्र में केवल स्व-रोजगार में लिप्त लोग थे। इस क्षेत्र का बड़ा हिस्सा वे मजदूर थे जो ऐसी छोटी-छोटी औद्योगिक इकाइयों में काम करते थे जो 'फैक्टरी अधिनियम, 1948' के दायरे से बाहर थी।

असंगठित क्षेत्र में तरह-तरह की गतिविधियां आती हैं। इसलिए इस विषय पर काफी बहस रही है कि इस क्षेत्र को पारिभाषित कैसे किया गया। पहले इस क्षेत्र को रोजगार देने वाली इकाई के चरित्र के आधार पर परिभाषित करने का चलन था। परंतु बाद में यह परिभाषा अधूरी लगने लगी क्योंकि यह देखने में आया कि संगठित क्षेत्र की इकाइयां भी बड़े पैमाने पर असंगठित श्रम का इस्तेमाल करती हैं। निजी संगठित क्षेत्र तो क्या सार्वजनिक क्षेत्र में भी बड़ी संख्या में अनियमित, अस्थायी एवं ठेका मजदूरों से काम लिया जाता है। इसलिए बाद में श्रमिक एवं रोजगार देने वाले उपक्रम के बीच संबंध को आधार बनाकर असंगठित क्षेत्र को परिभाषित करने की कोशिश की गई।

असंगठित क्षेत्र में कार्यरत महिला श्रमिकों को सहायता देने के लिए बने एक अंतर्राष्ट्रीय गठबंधन WIEGO (Women in informal Employment Globalising and Organising) ने असंगठित क्षेत्र की परिभाषा में 6 किस्म के श्रमिकों को शामिल किया है: (i) स्व-रोजगार (खुद का काम और पारिवारिक काम) (ii) असंगठित उपक्रमों में मजदूरी पाने वाले श्रमिक (iii) पारिवारिक काम में बिना मजदूरी काम करने वाले (iv) अस्थायी मजदूर जिनका कोई निश्चित मालिक नहीं है (v) असंगठित उपक्रमों से जुड़े ठेका मजदूर और (vi) संगठित उपक्रमों से जुड़े ठेका मजदूर।

### संगठित एवं असंगठित क्षेत्र का रिश्ता

संगठित एवं असंगठित क्षेत्र को लेकर नीति निर्माताओं एवं शोधकर्ताओं के बीच काफी बहस रही है। 1973 में जब 'हार्ट' नाम के नतत्वशास्त्री ने पहली बार 'अनौपचारिक क्षेत्र' की अवधारणा को ईजाद किया तो उन्होंने इस क्षेत्र को विकासशील देशों की एक विशिष्ट प्रवृत्ति के रूप में देखा। एक ऐसा क्षेत्र जिसमें आधुनिक काल के पहले से चले आ रही रंग बिरंगी स्व-रोजगार गतिविधियां शामिल थीं। ILO ने भी असंगठित क्षेत्र को पूंजी के अभाव वाले विकासशील देशों में रोजगार का एक महत्वपूर्ण स्रोत मानते हुए उसे प्रोत्साहन देने की बात की। यही पोजिशन श्रम अर्थशास्त्री 'मार्क हॉमस्ट्रॉंग' की भी थी जिन्होंने 'विभाजित श्रम शक्ति' (Segmented labour force) एवं द्वैत श्रम बाजार (Dual labour markets) की अवधारणा को प्रतिपादित किया। किन्तु धीरे-धीरे समझ में आने लगा कि संगठित एवं असंगठित क्षेत्र के बीच गहरा संबंध है। काफी हद तक यह कहा जा सकता है कि असंगठित क्षेत्र संगठित क्षेत्र के लिए उत्पादन की लागत कम करने के औजार (Cost cutting mechanism) के रूप में काम करता है।

असंगठित क्षेत्र में मालिक एवं मजदूर के बीच का संबंध भले ही सीधा, स्पष्ट एवं नियमित न हो, मगर है जरूर। शहरी असंगठित क्षेत्र के लिए श्रम, सामाजिक एवं पर्यावरणीय लागतों से बचने का साधन है। संगठित क्षेत्र में ऐसी अनेकों इकाइयां हैं जो सिर्फ असेंबलिंग, पैकेजिंग या मार्किटिंग का काम करती हैं। इसी तरह से दिल्ली में रिक्शा चलाने के काम को भी देखें तो अधिकांश रिक्शा केवल कुछ बड़े मालिकों की सम्पत्ति हैं। 'नासवी' ने मुम्बई में रेहड़ी-पटरी-फेरी वालों के अध्ययन के आधार पर पाया कि बहुत सी पटरियों एवं ठीयों के मालिक कोई और हैं। घर में काम करने वाले भी किसी कड़ी के द्वारा संगठित क्षेत्र की उत्पादन प्रक्रिया से जुड़े होते हैं। दिल्ली में चिंतन ने जो कूड़ा बीनने वालों का अध्ययन किया उसमें भी यह पाया गया कि अधिकांश कूड़ा बीनने वाले किसी न किसी कबाड़ी के साथ जुड़े होते हैं। दरअसल, स्व-रोजगार उतना भी स्वतंत्र नहीं है जितना दिखता है। मालिक-मजदूर का रिश्ता भले ही अदृश्य हो मगर वह ज्यादा क्रूर है। दक्षिण एशिया के श्रमिकों के विषय पर कई दशकों से अध्ययन कर रहे डच समाजशास्त्री जां ब्रेमन ने भी पाया है कि असंगठित क्षेत्र अपनी स्वायत्त तर्कप्रणाली एवं नियमों से चलने वाला अलग-थलग एवं बंद क्षेत्र नहीं है। इस क्षेत्र को तभी समझा जा सकता है जब हम उन कड़ियों को समझें जो इसे संगठित क्षेत्र से बांधते हैं। वे ये भी कहते हैं कि सम्पत्ति का स्वामित्व एवं जीवन यापन के लिए उसका इस्तेमाल दो अलग चीजें हैं। तथाकथित असंगठित क्षेत्र की बहुत सी आर्थिक गतिविधियां संगठित क्षेत्र की पूंजी चला रही है और उसका मकसद है श्रम की लागत एवं टैक्स बचाना।

### असंगठित क्षेत्र: वैश्विक परिदृश्य

असंगठित क्षेत्र को पहले गरीब मुल्कों की विशिष्टता समझा जाता था। यह माना जाता था कि औद्योगिक विकास के रास्ते पर आगे बढ़ते हुए इन मुल्कों से भी यह क्षेत्र उसी तरह से गायब हो जाएगा जैसे विकसित औद्योगिक देशों से हुआ। 1970 का दशक आते-आते यह दिखने लगा कि असंगठित क्षेत्र सिकुड़ने की बजाय उल्टे फैलता जा रहा है। तब बहुत से समाजशास्त्री यह कहने लगे कि एशिया, अफ्रीका एवं दक्षिण अमरीका की सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में कुछ ऐसी विलक्षणता है जो 'अनौपचारिकता' को बढ़ावा देता है। बहुत से समाजशास्त्री एवं नतत्वशास्त्री अभी भी इस विचार को मानते हैं।

इस विचार को झटका तब लगा जब विश्व भर में उदारीकरण एवं वैश्वीकरण की नीतियों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। 80 के दशक के बात उत्तरोत्तर यह देखने में आया कि गरीब मुल्क तो क्या अमीर औद्योगिक मुल्कों में भी असंगठित क्षेत्र तेजी से बढ़ने लगा। यह भी देखने में आया कि असंगठित क्षेत्र के विकास का गहरा रिश्ता पूंजीवादी विश्व व्यवस्था के संकट के साथ भी है। 1999 के दक्षिण एशियाई संकट से इन देशों में असंगठित क्षेत्र का तेजी से विस्तार हुआ। इसी तरह से 1990 से 1997 के बीच असंगठित क्षेत्र में रोजगार मैक्सिको में

49% से बढ़कर 54% हो गया। ब्राजील में 44% से 51%, अर्जेंटीना में 39% से 46% और वेनेजुएला में 34% से 46% हो गया।

अफ्रीका में पिछले दशक के दौरान पैदा हुए रोजगार के कुल अवसरों में से 90% असंगठित क्षेत्र में हुए। सब-सहारा अफ्रीका में असंगठित क्षेत्र खेती के अलावा बाकी रोजगार का 75% है। महिलाओं का श्रम तो 92% (खेती के बाहर) असंगठित क्षेत्र में लगा है।

यहां तक कि विकसित देशों का भी एक बड़ा हिस्सा आज असंगठित क्षेत्र में काम कर रहा है। कुल रोजगार में असंगठित का प्रतिशत आयरलैंड और न्यूजीलैंड में 11%, जर्मनी में 19%, इटली में 20%, इंग्लैंड में 7 से 13% के बीच और स्पेन में 10 से 23% की बीच है।

इससे स्पष्ट होता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया श्रमिक को ज्यादा से ज्यादा असुरक्षित बनाने पर टिकी हुई है। इसलिए संगठित क्षेत्र की सुरक्षा से बाहर धकेल कर उन्हें असंगठित क्षेत्र की असुरक्षा एवं भयावहता में भेजा जा रहा है।

असंगठित क्षेत्र के बढ़ने की दूसरी वजह बड़ी कम्पनियों का बदलता हुआ चरित्र है। आज ये कम्पनियां सीधे खुद उत्पादन नहीं करती बल्कि दूसरे छोटे-छोटे उपक्रमों से उत्पादन कराती हैं। कम्पनी के कोर में केवल थोड़े से अत्यंत उच्च दक्षता वाले तकनीकी श्रमिक होते हैं और इसके अलावा प्रबंधन एवं मुख्यालय स्थित कर्मचारी होते हैं। यह कोर उत्पादन एवं बिक्री का नियंत्रण करता है, उत्पादन ठेकों को नियंत्रित करता है, यह निर्णय लेता है कि कब, कौन, कहां और कैसे उत्पादन होगा, कैसे सप्लाय होगी। इस तरह से इन कम्पनियों का असली उत्पाद भौतिक वस्तुएं नहीं बल्कि लेबल, डिजाईन, मार्किटिंग, गुणवत्ता नियंत्रण एवं बिक्री है। उत्पादन मूलतः दुनिया भर, खासकर गरीब मुल्कों, में फैली उन छोटी-छोटी असंगठित क्षेत्र की इकाईयों (स्वेट शॉप्स) में होता है जहां कोई श्रम, सामाजिक एवं पर्यावरणीय कानून नहीं लागू होते हैं।

मसलन, जूता बेचने वाली विख्यात कम्पनी 'नाइकी' (Nike) अपने आप को विनिर्माण कम्पनी नहीं बल्कि "शोध, विकास एवं मार्किटिंग कम्पनी" बतलाती है। 'टोयोटा' के 1991 में 36,000 सब-कांट्रेक्टर थे। इसी तरह से 'युनाइटेड ब्रांड्स' (United Brands) ने अपने केला उगाने वाले श्रमिकों के एक बड़े हिस्से को "स्वतंत्र किसान" बना दिया है जो केले का उत्पादन करेंगे और उसकी खरीद के लिए पूरी तरह से कम्पनी पर निर्भर रहेंगे।

श्रम बाजार का विनियमन ट्रेड यूनियन को खत्म करने और मजदूर आंदोलन का कुचलने की भी रणनीति है। श्रमिकों को छोटे-छोटे उपक्रमों में छितरा दीजिए, इतना काम लीजिए कि उनके पास कुछ और सोचने-करने का वक्त ही न बचे, सामाजिक रूप से ज्यादा असुरक्षित तबकों (महिलाओं, नौजवान, प्रवासी) को काम पर लगाइए, बेरोजगारों की एक फौज हमेशा बनाकर रखिए ताकि इस फौज में धकेल दिए जाने का डर दिखाकर श्रमिकों को अनुशासित एवं नियंत्रित किया जा सके, ऐसी स्थिति में ट्रेड यूनियन का बन पाना अपने आप बहुत कठिन हो जाएगा।

यही वजह है कि दुनिया भर में ट्रेड यूनियनों की सदस्यता में भारी कमी आयी है। जापान में 1950 में 56% श्रमिक यूनियन के सदस्य थे। 1995 में यह संख्या 17% रह गई। अमरीका में 1945 में सदस्यता 35.5% थी जो आज 14% हो गई है। अन्य देशों में भी यूनियनों की सदस्यता तेजी से गिरी। 1985 से 1995 के बीच अर्जेंटीना में यह 42.6% गिरी, मैक्सिको में 28.2%, आस्ट्रेलिया में 29.6%, वेनेजुएला में 42.6%, फ्रांस में

37.2%, जर्मनी में 17.6%, इस्त्राईल में 77%, युनाइटेड किंगडम में 27.7%, पोलैंड में 42.5% और पुर्तगाल में 50.2% कम हुई।

### **वैश्वीकरण और भारत**

आजादी के बाद लगभग चार दशकों तक भारत आत्मनिर्भर विकास के रास्ते पर चला। यह रास्ता कितना आत्मनिर्भर था, इसकी अगुवाई किस 'आत्म' ने की और 'निर्भरता' किस तबके के हिस्से में आई, इन सब सवालों को अगर किनारे कर दें तो भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि भारत की अर्थव्यवस्था की अपनी एक स्वायत्तता थी जो विश्व बाजार के उतार-चढ़ावों पर सीधे निर्भर नहीं थी। 80 के दशक में पहली बार देश के हुक्मरानों ने अर्थव्यवस्था की खिड़की खोलकर विश्व बाजार से आंख मिचौली खेली। 1991 की नई आर्थिक नीति के साथ अर्थव्यवस्था का दरवाजा विश्व बाजार के लिए खोल दिया गया। अब तो नौबत यह आ गई है कि इस बाजार की आंधी में एक-एक करके सभी दीवारों, छत, खिड़कियां उड़े जा रहे हैं। इस आंधी ने रोजगार के क्षेत्र पर जो मुख्य प्रभाव डाले हैं, यहां अभी हम संक्षेप में केवल उसी की चर्चा करेंगे।

1. 1990 के दशक के बाद बेरोजगारी तेजी से बढ़ी है। पहले प्रति इकाई पूंजी पर जितना रोजगार पैदा होता था अब उसका केवल 20% ही होता है
2. सार्वजनिक क्षेत्र का फैलाव बंद हो गया है और जो मौजूद है उसका भी निजीकरण किया जा रहा है।
3. श्रम कानूनों के विनियमन के नाम पर असुरक्षित, अस्थायी एवं कम मजदूरी पर श्रम को प्रोत्साहित किया जा रहा है।
4. शहरों से श्रमिकों एवं श्रम-प्रधान कारखानों को हटाकर उन्हें 'सेवा-व्यवसाय' प्रधान बनाया जा रहा है।
5. इस सबके चलते असंगठित क्षेत्र बढ़ता जा रहा है 1978 में 89% श्रमिक असंगठित क्षेत्र में थे। 93% इस क्षेत्र में हैं।
6. अर्थव्यवस्था के 'खुलने' से बहुत से देसी उद्योग-धंधे बंद होते जा रहे हैं जिससे बेरोजगारी फैल रही है और संगठित क्षेत्र बर्बाद हो रहा है। उदाहरण के लिए मुम्बई में 80 और 90 के दशक में कपड़ा मिलों की बंदी से 1 लाख लोग बेरोजगार हो गए। अहमदाबाद में भी इस बीच 50 निजी और 20 सरकारी कपड़ा मिलों के बंद होने से 1 लाख श्रमिक सड़क पर आ गए। दिल्ली में भी 1996 की उद्योगबंदी से लगभग 50,000 श्रमिक और 2000 की बंदी से हजारों मजदूर बेरोजगार हुए हैं।

### **दिल्ली में रोजगार**

नवम्बर 2003 में खतरा केन्द्र द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'दिल्ली किसकी है?' में हमने दिल्ली में रोजगार की स्थिति का एक प्राथमिक खाका खींचने की कोशिश की थी। इस अध्ययन में जो सामान्य बातें मुख्य रूप से उभर कर सामने आयी थी वे इस प्रकार से हैं:-

1. दिल्ली में प्रति व्यक्ति निवेश एवं प्रति व्यक्ति आय देश में सबसे ज्यादा है। इसलिए आप्रवास के मामले में भी दिल्ली अव्वल नंबर पर है।
2. नई आर्थिक नीति आने के 7 साल के भीतर शहर में बेरोजगारों की संख्या लगभग 300 फीसदी बढ़ गई। 1992 में दिल्ली में 1.96 लाख लोग बेरोजगार थे। 1999 आते-आते यह संख्या 5.69 लाख तक पहुंच गई।



3. पिछले दो दशकों (1981-2000) के भीतर शहर की अर्थव्यवस्था का रूप काफी बदला है। प्राथमिक क्षेत्र (कृषि, वानिकी, मछली पालन इत्यादि) घट कर आधे से भी कम (3.81% से 1.74%) रह गया है। द्वितीयक क्षेत्र (कल-कारखाने) में भी रोजगार उल्लेखनीय रूप से कम हुआ है (34.87% से 28.68%)। दूसरी, और सेवा क्षेत्र में रोजगार का विस्तार (61.32% से 69.58%) हुआ है। इस क्षेत्र में भी ज्यादा बढ़ोत्तरी मुख्य रूप से 'व्यापार, होटल एवं रेस्तरां' (21% से 29%) तथा 'वित्त एवं व्यापारिक गतिविधियों' (4.69% से 6.4%) में हुई है।
4. रोजगार में संगठित क्षेत्र का हिस्सा लगातार कम हो रहा है। एक दशक पहले शहर में संगठित-असंगठित का अनुपात 27%-73% था जो अब 20%-80% हो गया है।
5. शहर की अर्थव्यवस्था में छोटे उपक्रमों की बहुतायत है। कुल उपक्रमों के छोटे उपक्रम (1-5 लोग) 83.75 फीसदी हैं। मध्यम उपक्रम (6-9 मजदूर) 8.82 फीसदी हैं जबकि बड़े उपक्रम (10 से ज्यादा मजदूर) केवल 7.45% हैं।
6. रोजगार की दृष्टि से देखें तो सबसे ज्यादा रोजगार (54% से ज्यादा) बड़े उपक्रमों में हैं। छोटे उपक्रमों में लगभग एक तिहाई लोग कार्यरत हैं।
7. आजादी के बाद से लेकर 90 के दशक के मध्य तक शहर में तेजी से औद्योगिकरण हुआ। 1996 में अदालत के हस्तक्षेप के बाद औद्योगिकरण मंदा पड़ गया है। आद्योगिक उत्पादन के सूचकांक को देखने से भी पता चलता है कि उसमें हमेशा सकारात्मक बदलाव हुआ। केवल 1991, जब नई आर्थिक नीति लागू की गई और 1996-98, जब अदालत के आदेश के तहत बहुत से कारखाने बंद कर दिए गए, में ही सूचकांक में नकारात्मक वृद्धि दिखाई पड़ती है।
8. पहले एवं दूसरे मास्टर प्लान के प्रावधानों के मुताबिक सरकार को कुल 66 औद्योगिक क्षेत्र बनाने थे। जबकि बने केवल 28 हैं। यह एक बड़ी वजह है कि अधिकांश औद्योगिक इकाइयां अनधिकत (नॉन कनफर्मिंग) क्षेत्रों में चल रही हैं।
9. असंगठित क्षेत्र की अधिकांश गतिविधियों के लिए शहर की योजना में या तो कोई स्थान नहीं है (जैसे कूड़ा रिसायकलिंग क्षेत्र) या अगर है भी तो प्रावधान इतनी कम इकाइयों के लिए हैं (जैसे रिक्शा चालन एवं रेहड़ी-पटरी-फेरी व्यवसाय) कि बहुसंख्या योजना के दायरे से बाहर रहती है।

'दिल्ली किसकी है?' में मूलतः दिल्ली सरकार एवं कुछ गैर-सरकारी दस्तावेजों को आधार बनाया गया था। इसमें हमने सेंसस और एन.एस.एस.ओ. के आंकड़ों का बहुत कम इस्तेमाल किया था। इस बीच जे.एन.यू. के प्रो० अमिताभ कुंडु ने 25 मई 2004 को दिल्ली सरकार की एक कार्यशाला में एक अध्ययन प्रस्तुत किया। 'Livelihood and Migration pattern in Delhi' ('दिल्ली में रोजगार एवं आप्रवास की प्रवृत्ति') शीर्षक के इस अध्ययन में उन्होंने सेंसस एवं एन.एस.एस.ओ. के आंकड़ों का विशद विश्लेषण करते हुए कुछ निष्कर्ष निकाले हैं जो इस प्रकार से हैं:-

1. दिल्ली की अर्थव्यवस्था मजबूत होने की वजह से यहां आबादी में श्रमिकों का अनुपात, जिसे Work Participation Rate (आगे से WPR) कहते हैं, हमेशा बाकी बड़े शहरों या राष्ट्रीय औसत से ज्यादा रहा है। मगर पिछले दो दशकों के दौरान इसमें कमी आई है। यह कमी सभी तरह के श्रमिकों के लिए नहीं

है। 10वीं से ऊपर पढ़े-लिखे श्रमिकों का WPR स्थिर रहा है या बढ़ा है। जिन श्रमिकों का WPR तेजी से घटा है वे निरक्षर या कम पढ़े लिखे हैं। इससे साफ पता चलता है कि अर्थव्यवस्था का चरित्र किस तरह से बदल रहा है।

2. इसी तरह की बेरोजगारी की दर भी दिल्ली में राष्ट्रीय औसत से कम रहती है। मगर 1993 के बाद बेरोजगारी तेजी से बढ़ी है। हालांकि यह प्रवृत्ति सारे देश में दिखाई पड़ती है मगर दिल्ली में यह कहीं ज्यादा तेज है।
3. ग्रामीण दिल्ली में WPR शेष ग्रामीण भारत की तुलना में पिछले कई दशकों से कम रहा है। यह स्थिति अब और भयावह हो गई है। खासकर ग्रामीण महिलाओं का WPR तो लगभग नगण्य हो गया है।
4. दिल्ली के शहरी क्षेत्र की परिधि पर रोजगार का सजन उस तरह से नहीं हुआ जैसा मास्टर प्लान में सोचा गया था। पिछले दो दशकों के दौरान बड़ी आवासीय कालोनियों एवं उद्यानों के बनने से इन क्षेत्रों में कुछ हद तक रोजगार बढ़ा है। किन्तु बहुत सी वजहों के चलते ग्रामीण आबादी को इससे फायदा नहीं पहुंचा है। इन कार्यों में मुख्यतः प्रवासी मजदूर काम कर रहे हैं।
5. सेवा क्षेत्र लगातार मजबूत होता जा रहा है। दिल्ली की आय में इस क्षेत्र का हिस्सा 1993-94 में 71% था जो 2001-02 में बढ़कर 76% हो गया। इस आय में एक बड़ा हिस्सा वित्तीय, बीमा, बैंकिंग, रिएल एस्टेट एवं व्यापारिक सेवाओं का है। राज्य की आय में इनका हिस्सा 1993 में 25% था जो 2001 में बढ़कर 30% तक पहुंच गया। किंतु रोजगार के मामले में यह क्षेत्र 4% पर स्थिर है।
6. शहर की परिधि के 3 किलोमीटर के दायरे में स्थित गांवों का चरित्र पूरी तरह से बदल गया है। खेती समाप्त हो गई, रोजगार के नए साधन कम उत्पादकता, कम मजदूरी, ज्यादा प्रदूषणकारी एवं निकट चरित्र के हैं। इनमें भी ज्यादातर प्रवासी मजदूर काम कर रहे हैं। जैसे, जहां शहरी क्षेत्र में निर्माण गतिविधियों में रोजगार का सजन बिल्कुल रुक सा गया है, वहीं ग्रामीण क्षेत्रों में यह प्रति वर्ष 20% की दर से बढ़ रहा है।
7. मास्टर प्लान में शहरी क्षेत्र के भीतर उद्योगों को हतोत्साहित करने एवं परिधि पर प्रोत्साहित करने की बात कही गई है। किन्तु बाजार की ताकतों के प्रताप से शहर के भीतर औद्योगिकरण दिन दूनी रात चौगुनी गति से आगे बढ़ा है। 1996 में अदालत की दखल के बाद शहर के भीतर औद्योगिकरण धीमा पड़ा है। दूसरी ओर परिधि पर प्रस्तावित औद्योगिक क्षेत्र अभी विकसित नहीं हुए हैं। ऐसी स्थिति में बहुत से उद्योग गांवों में या सीमा से सटे हरियाणा एवं उत्तर प्रदेश के गांवों में स्थानांतरित हो गए हैं।
8. दिल्ली के रोजगार के ढांचे में संगठित क्षेत्र का हिस्सा बाकी बड़े शहरों एवं राष्ट्रीय औसत की तुलना में काफी ज्यादा है। संगठित क्षेत्र में भी सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा 70 फीसदी के आस-पास है। 90 के दशक से चल रही निजीकरण, उदारिकरण की नीतियों के बावजूद संगठित रोजगार में सार्वजनिक क्षेत्र की पहले वाली महत्ता बरकरार है।

उपरोक्त दोनों अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि दिल्ली को एक वैश्विक 'व्यवसायिक-सेवा क्षेत्र प्रधान-हाइटेक' केन्द्र बनाने की प्रक्रिया जोरों-शोरों से चल रही है। जो रोजगार के साधन एवं जिस तरह के श्रमिक इस केन्द्र में फिट होने के अनुकूल होंगे उन्हें ही शहर में जगह मिलेगी, बाही सबको शहर के बाहर धकेला जाएगा। इस

स्थिति से निबटने के लिए साझा मंच की क्या रणनीति हो इस विषय पर गंभीरता से विचार करने की ज़रूरत है।

### **चर्चा के लिए कुछ सवाल**

1. क्या हम संगठित क्षेत्र को मरने के लिए छोड़ दें और अपना पूरा ध्यान असंगठित क्षेत्र के लिए सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने की दिशा में लगाएं ? या हमें संगठित क्षेत्र को पुनर्जीवित कर उसे और फैलाने एवं मजबूत बनाने की बात भी करनी होगी ?
2. असंगठित क्षेत्र के लिए अगर कानून बन भी जाता है तो उसका क्रियांवन कौन सुनिश्चित करेगा? क्या संगठन के बिना यह काम हो पाएगा? यदि नहीं, तो असंगठित क्षेत्र के संगठन (संगठनों) का ढांचा एवं रूपरेखा कैसी होगी?
3. उद्योग को बचाने के लिए क्या किया जाए ? क्या हम ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों की कल्पना कर सकते हैं जो श्रम प्रधान हों, प्रदूषण भी न फैलाएं और मज़दूरों को भी पूरी सुरक्षा एवं सहूलियतें दें? ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों का डिज़ाइन कैसा होगा, उत्पादन की सुरक्षित तकनीकें कौन सी होंगी, कचरे एवं मलजल का प्रबंधन कैसे होगा और मज़दूरों को आवास, उचित मज़दूरी एवं सामाजिक सुरक्षा कैसे मिलेंगे ?

**आइए इन सब सवालों पर मिल कर कुछ सोचते हैं !!!**

